

4

धर्म और नैतिकता



धर्म

हाल ही में एक महिला मेहमान ने मुझसे कहा, “आप अपने बच्चों को यीशू के जीवन की बात क्यों नहीं पढ़ाते, जिससे वे प्रेरित हों और उनके पदचिन्हों पर चलें?” मेरा जवाब था कि किसी के जीवन के बारे में *सुनकर* व्यक्ति वैसा नहीं बनता, उसके लिए वैसी ज़िन्दगी *जीनी* पड़ती है; क्योंकि शब्द कृत्यों से कहीं कम महत्वपूर्ण होते हैं। कई लोग समरहिल को इसलिए एक धार्मिक स्थल कहते हैं क्योंकि यहाँ बच्चों को स्नेह और प्यार मिलता है।

यह बात सच होगी पर मुझे यह विशेषण नापसन्द है, क्योंकि धर्म का जो आज प्रचलित अर्थ है वह है स्वाभाविक जीवन का विरोध। मुझे आपत्ति इस बात पर है कि कोई मनुष्य यह दावा करे कि *उसका* ईश्वर ही वह सत्ता है जो मानवीय विकास और आनन्द पर बंधन लगाता है। यह लड़ाई आध्यात्म में विश्वास रखने वालों और अविश्वास करने वालों की लड़ाई नहीं है। यह लड़ाई है मानवीय स्वतंत्रता में विश्वास करने वालों और मानवीय स्वतंत्रता का दमन करने वालों के बीच।

शायद किसी दिन यह नया धर्म हमारे पास हो। आप मुँह बाकर चीखेंगे, “क्या? एक *नया* धर्म?” सारे ईसाई उठ खड़े होंगे। प्रतिवाद करेंगे। क्या ईसाई धर्म शाश्वत नहीं है? यहूदी उठेंगे और प्रतिवाद करेंगे। क्या यहूदी धर्म शाश्वत नहीं है? यही दूसरे धर्म वाले भी कहेंगे।

नहीं कोई धर्म शाश्वत नहीं है, जैसे कोई देश शाश्वत नहीं है। धर्म - *कोई* भी धर्म - जन्म, यौवन, जरा और मरण के चक्र से गुज़रता है। सैकड़ों धर्म दुनिया में आए और गए हैं। लाखों मिस्रवासी, चार हजार वर्षों तक एमॉन रा के उपासक रहे। पर आज उनमें से एक भी उपासक धरती पर नहीं है। ईश्वर का विचार संस्कृति के साथ बदलता है। पशुपालक समाज में ईश्वर एक दयालु गड़रिया था। युद्ध के समय ईश्वर समर का देवता था। जिस काल में व्यापार-वाणिज्य फल-फूल रहा था तो ईश्वर न्याय का देवता था, जो समता और दया तोल-तोलकर बाँटता था। आज के युग में, जब मनुष्य की रचनात्मकता भी मशीनी है, हमारा ईश्वर एच. जी. वैल्स की तर्ज़ पर एक अविद्यमान ताकत ही हो सकता है। क्योंकि जब मनुष्य खुद अपना *ऍटम-बम* बना सके, उस युग में किसी रचनात्मक ईश्वर की ज़रूरत नहीं है।

कोई ऐसा दिन भी होगा जब नई पीढ़ी आज के पुरातन धर्म और मिथकों को

अस्वीकार करेगी। जब यह नया धर्म आएगा तब वह इस विचार का विरोध करेगा कि मनुष्य की रचना पाप से हुई है। यह नया धर्म मानव को खुश रखकर ईश्वर का गुणगान करेगा।

यह नया धर्म शरीर और आत्मा को परस्पर विरोधी नहीं मानेगा। वह मानेगा कि शरीर पापों का पुंज नहीं है। यह धर्म स्वीकारेगा कि इतवार की सुबह तैरना, गिरजे में प्रार्थनाएँ गाने से अधिक पवित्र काम है। क्योंकि ईश्वर को खुश रखने के लिए प्रार्थनाएँ गाना ज़रूरी नहीं है। इस नए धर्म का ईश्वर आकाश में नहीं, बागों-चारागाहों में मिलेगा। कल्पना कीजिए कि जितने घण्टे गिरजे जाने वाले प्रार्थना में बिताते हैं, उसका दस प्रतिशत भी अच्छे दयालू व सहायक कामों में बिताएँ, तो क्या कुछ हासिल न हो जाए।

मेरा अखबार हर दिन मुझे बताता है कि हमारा आज का धर्म किस कदर मर चुका है। हम लोगों को जेलों में टूसते हैं। हमसे मतभेद रखने वालों की आवाज़ों को दबाते हैं। गरीबों का शोषण करते हैं। युद्ध के लिए हथियारों से लैस होते हैं। एक संगठन के रूप में गिरजा निहायत कमज़ोर है। वह युद्ध नहीं रोक सकता। हमारी अमानवीय दण्ड संहिता को बदल नहीं सकता। शोषणकर्ताओं के विरुद्ध खड़ा तक नहीं होता।

आप ईश्वर और धनलोलुपता की सेवा एक साथ नहीं कर सकते। आज के शब्दों में कहें तो इतवार को गिरजा और सोमवार को बन्दूक चलाने का अभ्यास नहीं चल सकता। शायद ईश्वर निन्दा का इससे बड़ा कथन दूसरा नहीं होगा, जब युद्ध के दौरान विभिन्न गिरजों में यह कहा गया है कि ईश्वर हमारे साथ है? ईश्वर दोनों पक्षों को सही कैसे मान सकता है? ईश्वर एक तरफ प्रेम की मूर्ति और दूसरी तरफ विषैली गैस बरसाने वाला कैसे हो सकता है?

कई लोगों के लिए व्यवस्थित परम्परागत धर्म, व्यक्तिगत समस्याओं से निकलने का आसान रास्ता होता है। रोमन कैथोलिक व्यक्ति अगर पाप करे और उसे अपने पादरी के सामने स्वीकार करे तो पादरी उसे उन पापों से मुक्ति देता है।

धार्मिक व्यक्ति अपने बोझ ईश्वर के मत्थे डाल सकता है। उसे विश्वास होता है कि वह ज़रूर महिमा के पथ पर बढ़ेगा। ऐसे में व्यक्तिगत क्षमता और आचरण के बदले इस कथन पर ज़ोर दिया जाता है कि, “ईश्वर में विश्वास करो, वे तुम्हारा उद्धार करेंगे।” इसका अर्थ दरअसल यह लिया जाता है कि तुम बस विश्वास की घोषणा कर दो, तुम्हारी आध्यात्मिक समस्याएँ खुद-ब-खुद खत्म हो जाएँगी। स्वर्ग का टिकट तुम्हारे लिए पक्का है।

मूलतः धर्म जीवन के प्रति भयभीत होता है। वह जीवन से दूर भागने का कृत्य

है। वह इहलौकिक जीवन को गौण बताता है। यह कहता है कि इस जीवन के परे एक बेहतर जीवन है। रहस्यवाद और धर्म का अर्थ है कि यह जीवन असफल है। स्वतंत्र व्यक्ति निर्वाण नहीं पा सकता। पर स्वतंत्र बालक जीवन को व्यर्थ या असफल नहीं मानते। क्योंकि उन्हें किसी ने जीवन को नकारना नहीं सिखाया है।

धर्म और रहस्यवाद अवास्तविक विचार और आचरण को पनपाते हैं। सच्चाई यह है कि हम अपने टेलीविज़न और जेट विमानों के बावजूद *वास्तविक* जीवन से एक अफ्रीकी आदिवासी से भी ज़्यादा दूर हैं। यह सच है कि उस आदिवासी का धर्म भी भय से जन्मा है, पर वह प्रेम में नपुंसक नहीं है, न ही कुंठित है।

उसी तथाकथित 'जंगली' आदिवासी की तरह हम भी भय के कारण धर्म की शरण लेते हैं। पर उस जंगली की तुलना में हम नपुंसक बनाए जा चुके हैं। हम अपने बच्चे को धर्म तब ही सिखा सकते हैं जब हम उसे नपुंसक न बनने दें, उसकी आत्मा को भय से टूटने से बचाएँ।

मेरे पास तमाम ऐसे बच्चे आए हैं जो धार्मिक प्रशिक्षण द्वारा नष्ट कर दिए गए हैं। उनका उदाहरण देने से किसी को फायदा नहीं होगा। दूसरी ओर कोई धार्मिक व्यक्ति भी तमाम उदाहरण देगा जहाँ लोग धर्म के सहारे बचा लिए गए हैं। अगर हम यह मानकर चलें कि मनुष्य पापी है और उसे बचाना ज़रूरी है तो आज के धार्मिक लोग सही हैं।

पर मैं माता-पिता से एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की गुज़ारिश करता हूँ। ऐसा दृष्टिकोण जो उनके आसपास के लोगों से परे हो। मैं कहता हूँ कि वे एक ऐसी सभ्यता को पनपाएँ जो जन्म से बच्चों पर पाप का बोझ न लादे। मेरी गुज़ारिश है कि माता-पिता बच्चों से कहें कि वह *पाप के साथ नहीं जन्मा है*, वह अच्छे इन्सान की तरह जन्मा है। उसे पापों से मुक्ति की दरकार नहीं है। मैं माता-पिता से कहता हूँ कि वे अपने बच्चों को बताएँ कि वे *इसी जीवन* को बेहतर बना सकते हैं। उन्हें इसी को बेहतर बनाना चाहिए। सो वे अपनी सारी ऊर्जा यहाँ और इस जीवन में लगाएँ। मौत के बाद किसी शाश्वत जीवन को सुधारने में नहीं।

किसी बच्चे पर धार्मिक रहस्यवाद नहीं लादना चाहिए। क्योंकि रहस्यवाद उसे सच्चाई व वास्तविकता से बचना सिखाता है, पर एक खतरनाक रूप में। हम सबको यदा-कदा सच्चाई से दूर भागने की ज़रूरत पड़ती है। अन्यथा हम कभी कोई उपन्यास नहीं पढ़ते, कोई फिल्म नहीं देखते, कभी शराब का जाम न उठाते। पर हमारा भागना, खुली आँखों के साथ होता है, और हम जल्दी ही वास्तविक दुनिया में लौट आते हैं। पर एक रहस्यवादी हमेशा अपनी आध्यात्मिकता और धार्मिकता में अपनी कामेच्छा को डालकर एक भगोड़े का जीवन जीता है ।

कोई भी बच्चा स्वभाव से रहस्यवादी नहीं होता। समरहिल में एक स्वतःस्फूर्त अभिनय कक्षा के दौरान इस बात का सबूत मिला कि अगर बच्चों को भय का जामा न उढ़ाया जाए तो उनमें वास्तविकता का सहज-स्वाभाविक ज्ञान होता है। एक रात मैं कुर्सी पर बैठा और मैंने कहा, “मैं स्वर्ग के स्वर्ण द्वार का रखवाला संत पीटर हूँ। तुम सब स्वर्ग में घुसना चाहने वाले लोग हो। चलो अभिनय कर इसी बात को आगे बढ़ाओ।”

उन्होंने स्वर्ग द्वार में घुसने के तमाम कारण बताए। एक लड़की तो उल्टे रास्ते आई और बाहर जाने का बहाना बनाने लगी। पर उनमें सबसे उम्दा काम रहा एक चौदह साल के लड़के का जो सीटी बजाता हुआ आया और जब मैं हाथ घुसाए अन्दर घुसने लगा।

“अरे!” मैं ज़ोर से बोला, “तुम अन्दर नहीं जा सकते।”

वह पलटा और मुझ पर नज़र डाली। फिर बोला, “ओह! तुम इस काम पर नए-नए आए हो न?”

“क्या मतलब” मैंने पूछा।

“तो तुम्हें पता नहीं कि मैं कौन हूँ?”

“कौन हो भला?” मैंने जानना चाहा।

“ईश्वर!” उसने जवाब दिया और सीटी बजाता हुआ स्वर्ग में दाखिल हो गया।

बच्चे दरअसल प्रार्थना भी नहीं करना चाहते। बच्चों की प्रार्थनाएँ ढोंग भरी होती हैं। मैंने दर्ज़नों बच्चों से पूछा है, “प्रार्थना करते समय तुम क्या सोचते हो?” हरेक एक ही कहानी कहता है: हमेशा उसके दिमाग में तमाम दूसरी बातें सूझती हैं। बच्चा दूसरी बातें सोचेगा ही, क्योंकि उसके लिए प्रार्थना के कोई मायने नहीं हैं। वह तो उस पर लादी गई बाहरी चीज़ है।

दस लाख लोग हरेक भोजन से पहले प्रार्थना करते होंगे, उनमें से नौ लाख नब्बे हजार नौ सौ निन्यानवे अपनी प्रार्थना मशीनी तरीके से बोलते हैं, ठीक वैसे जैसे हम किसी के आगे बढ़ने के पहले कहते हैं, “ज़रा माफ़ कीजिएगा।” अपनी मशीनी प्रार्थनाएँ और मशीनी आचरण हम नई पीढ़ी को क्यों दें? यह तो बेईमानी होगी? किसी निरीह बच्चे पर धर्म लादना भी ईमानदारी नहीं है। जब वह बड़ा हो, खुद अपनी राह चुनने लायक हो जाए, तब अपना मन बनाने की छूट उसे मिलनी चाहिए। बच्चों को रहस्यवादी बनाने से भी बड़ा खतरा है उसे नफरत करने वाला इन्सान बनाना। अगर बच्चे को शुरू से यह सिखाया जाता है कि कुछ चीज़ें पाप हैं, तो जीवन के प्रति उसका प्रेम नफरत में बदल जाता है। जब बच्चे आज्ञाद होते हैं तो वे किसी दूसरे बच्चे को पापी नहीं मानते। समरहिल में अगर कोई बच्चा

चोरी करता है, और उसके साथियों की जूरी उसके काम पर विचार करती है, तो वे उसे चोरी की सज़ा नहीं देते। वे उसे वह कर्ज़ चुकाने भर को कहते हैं। बच्चों को सहज ही यह पता होता है कि चोरी करना एक तरह की बीमारी है। वे वास्तविकता से जुड़े होते हैं सो एक गुस्सैल ईश्वर की या एक लालच देकर लुभाने वाले शैतान की कल्पना नहीं करते। गुलाम मानव अपने ईश्वर की कल्पना अपने ही प्रतिरूप में करता है। पर मुक्त बच्चा जो जीवन का उम्मीद व बहादुरी से स्वागत करता है, उसे किसी ईश्वर की ज़रूरत नहीं होती।

अगर हम चाहते हैं कि बच्चों की आत्मा स्वस्थ रहे तो हमें उन्हें झूठे मूल्य देने से बचना चाहिए। तमाम लोग जो खुद तो ईसाई धर्मशास्त्र पर सवाल उठाते हैं, अपने बच्चों को ईसाई विश्वास देने से नहीं हिचकते। ऐसी कितनी माँएँ होंगी जो सच में एक आग से सुलगते नरक या स्वर्णिम स्वर्ग को शब्दशः स्वीकारती होंगी? पर ऐसी हज़ारों माँएँ अपने बच्चों को पौराणिक कथाएँ सुनाकर उनकी आत्मा को तोड़-मरोड़ देती हैं।

धर्म इसीलिए पनपता है क्योंकि इन्सान अपनी अवचेतन सच्चाई का सामना नहीं कर सकता। धर्म अवचेतन को शैतान बना डालता है और उसके द्वारा दिए गए प्रलोभनों से भागने और बचने की बात कहता है। पर अगर अवचेतन को चेतना के स्तर पर ले आया जाए, तो धर्म की कोई भूमिका रहेगी ही नहीं।

बच्चे के लिए अमूमन धर्म का अर्थ होता है केवल डर। ईश्वर एक महामानव है जिसकी पलकों में भी छेद हैं और जो तुम्हें हर जगह, हर समय, देख सकता है। यानी ऐसा ईश्वर चादर के नीचे किए जा रहे कृत्य को भी देख सकता है। बच्चे के जीवन में ऐसे भय को घुसाना सबसे बड़ा गुनाह है। क्योंकि तब वह हमेशा जीवन को नकारेगा, हमेशा कमतर रहेगा, हमेशा के लिए डरपोक बनेगा।

जिस किसी को बचपन में मृत्यु के बाद नरक का डर दिखाया गया हो वह इस जीवन के प्रति कभी भी आश्वस्त नहीं हो सकता। फिर चाहे वह व्यक्ति तार्किक रूप से यह समझता क्यों न हो कि स्वर्ग और नर्क की धारणाएँ मानवीय आशाओं व भय की बचकानी परिकल्पनाओं पर गढ़ी गई हैं। जो भावनात्मक लबादा हमें बचपन में उढ़ाया जाता है वह ताउम्र स्थाई रूप से लदा रहता है। वह कठोर ईश्वर जो स्वर्ग में संगीत के स्वरों से आपको पुरस्कार देता है या नरक की आग में जलाकर दण्डित भी करता है उसे इन्सान ने हूबहू अपनी ही शकल दी है। वह हमारी ही कल्पना की मूरत है। ईश्वर इच्छा-पूर्ति और शैतान भय-पूर्ति है।

इसलिए जो कुछ हमें खुशी से मज़ा दे, वही बुराई बन जाता है। ताश खेलना, नाटक देखना, नाचना आदि शैतानी बातें हैं। और धार्मिक होने का अर्थ अक्सर आनन्दहीन होना है। इतवार को गिरजा जाते वक्त कस्बों में बच्चों को ज़बर्दस्ती

पहनाए जाने वाले कड़क कपड़े धर्म के दण्ड देने वाले स्वरूप का प्रतीक हैं। धार्मिक संगीत भी अक्सर रुदन भरा होता है। अधिकांश लोगों को गिरजा जाने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ती है। वहाँ जाना एक फर्ज़ ही होता है। और धर्म का मतलब होता है दुखी दिखना और दुखी होना।

पर नया धर्म स्व के ज्ञान और उसे स्वीकारने पर आधारित होगा। दूसरों को प्यार करने की शर्त यह होती है, पहले खुद को प्यार किया जाए। यह बात मूल पाप के साथ पैदा होने के कलंक से अलग होगी, क्योंकि वहाँ इन्सान खुद से नफरत करता है और फलस्वरूप दूसरों से भी। कवि कॉलरिज ने नए धर्म की परिभाषा देते हुए कहा था कि, वही बेहतरीन प्रार्थना कर सकता है जो छोटी-मोटी सभी चीज़ों को ढेर प्यार करता है। नए धर्म में इन्सान तभी सर्वोत्तम प्रार्थना करेगा, जब वह स्वयं में निहित तमाम छोटी और बड़ी चीज़ों से प्यार कर सकेगा।

नैतिक शिक्षा

ज्यादातर माता-पिता सोचते हैं कि अगर वे अपने बच्चों को नैतिक मूल्य नहीं सिखाएँगे तो वे अपनी फर्ज़ अदायगी नहीं कर पाएँगे। इसलिए वे लगातार बताते रहते हैं कि क्या सही है, क्या गलत। लगभग सभी माता-पिता मानते हैं कि बच्चे की भौतिक ज़रूरतों को पूरा करने के अलावा नैतिक मूल्यों का सबक सिखाना उनकी प्रमुख ज़िम्मेदारी है। और ऐसे उपदेश के बिना बच्चा जंगली, व्यवहार में अनियंत्रित और दूसरों के प्रति असंवेदनशील बन जाएगा। यह मान्यता उस विश्वास से उपजती है जिसे हमारी संस्कृति में ज्यादातर लोग स्वीकारते हैं, कम से कम परोक्ष रूप से तो। वे स्वीकारते हैं कि मनुष्य जन्म से ही पापी है, स्वाभाविक रूप से ही खराब है। और अगर उसे अच्छा बनाने के लिए प्रशिक्षित नहीं किया जाए तो वह हिंसक, क्रूर और खूनी बन सकता है।

ईसाई चर्च इस विश्वास को साफ-साफ सामने रखते हुए कहता है, “हम अभागे पापी हैं।” अतः पादरी और स्कूली शिक्षक यह मानते हैं कि बच्चे को प्रकाश की ओर ले जाना है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह प्रकाश क्रॉस का है या नैतिक संस्कृति का। उनकी नज़र में दोनों का मकसद एक ही है - ‘ऊपर उठाने का’।

अब क्योंकि चर्च और स्कूल दोनों ही यह मानते हैं कि बच्चा पाप में जन्मा है तो भला माता-पिता से यह उम्मीद कैसे की जाए कि वे इन दोनों महान सत्ताओं से असहमत हों। चर्च कहता है, “अगर इहलोक में पाप करोगे तो परलोक में सज़ा मिलेगी।” माता-पिता इसी से सबक लेते हुए कहते हैं, “यह फिर से किया तो मैं

तुम्हें अभी ही सज़ा दूँगा।” अर्थात् दोनों ही भय के सहारे उत्थान करना चाहते हैं।

बाइबल में लिखा है, “ईश्वर का भय ही प्रज्ञा या समझदारी का प्रारम्भ है।” दरअसल अधिकाँश दृष्टान्तों में यह मानसिक असंतुलन का प्रारम्भ सिद्ध होता है। क्योंकि बालमन में किसी भी प्रकार का भय नुकसानदेह होता है।

अक्सर माता-पिता मुझसे कहते हैं, “मुझे समझ में नहीं आता कि मेरा बेटा बिगड़ कैसे गया है। मैंने उसे कठोर दण्ड भी दिया है और हमारे घर में कभी भी हमने गलत आदर्श उपस्थित नहीं किए हैं।” पर मेरा काम ज़्यादातर ऐसे आहत बच्चों के साथ रहा है जिन्हें पिटाई के भय या ईश्वर के भय के साथ पाला-पोसा या शिक्षित किया गया है। ऐसे बच्चों के साथ जिन्हें ऐसे धमकाकर अच्छा बनने पर बाध्य किया गया है।

बिरले ही माता-पिता ऐसे होंगे जिन्हें यह अहसास होगा कि वर्जनाओं, दण्ड, उपदेश तथा नैतिक आचरण की सतत् झरने वाली धारा का बच्चे पर कितना भयावह असर पड़ता है। और यह वह धारा है जिसके लिए बच्चा तैयार तक न हो, जिसे उसने समझा तक नहीं हो और इसलिए उसे स्वीकारा न हो।

समस्यात्मक बच्चे के परेशान माता-पिता कभी भी अपनी नैतिक संहिता पर सवाल नहीं उठाते। वे आश्वस्त होते हैं कि उन्हें अच्छे-बुरे का पूरा और सही ज्ञान है। और धर्मग्रंथों में आचरण के उपयुक्त मानक सदा-सर्वदा के लिए दर्ज़ कर दिए गए हैं। माता-पिता अपने माता-पिता की, अपने शिक्षकों की या समाज सम्मत संहिता की शिक्षा पर कभी सवाल नहीं उठाते। वे अपनी संस्कृति के समूचे मत को जस का तस स्वीकार लेते हैं। इन आस्थाओं पर विचार करना, उनका विश्लेषण करना एक बेहद कठिन और बौद्धिक काम है। उनको चुनौती देने का अर्थ है भारी आघात।

अतः परेशान माता-पिता यह मान लेते हैं कि दोष बच्चे का ही है। वे मान लेते हैं कि बच्चा अपनी इच्छा से, चाहकर बुरा बना है। मैं पूरे विश्वास से कहता हूँ कि बच्चा कभी गलत नहीं होता। मैंने जिन समस्यात्मक बच्चों के साथ काम किया है, उनमें से हरेक बच्चा भ्रमित प्रारम्भिक शिक्षा या गलत प्रारम्भिक प्रशिक्षण का परिणाम था। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षण-प्रशिक्षण प्रक्रिया में मनोविज्ञान के कई मूलभूत सिद्धान्तों को पूरी तरह से भुला दिया जाता है।

हम शुरुआत इसी विश्वास से करें कि प्रायः सभी यह मानते हैं कि मानव इच्छाशक्ति से युक्त है - वह सब कुछ कर सकता है जो वह करना चाहता है। इस विश्वास से सभी मनोवैज्ञानिक असहमत होंगे। मनोचिकित्सा ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्म काफी हद तक उसके अवचेतन मन द्वारा नियंत्रित

होते हैं। क्रिप्पेन नामक व्यक्ति अगर अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग कर पाता, तो शायद हत्यारा न होता। हमारे अपराध सम्बंधी कानून इस भ्रामक विश्वास पर आधारित हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जिम्मेदार व्यक्ति है, और अच्छा या बुरा चुनने की क्षमता रखता है। हाल में लंदन में एक व्यक्ति को महिलाओं के वस्त्रों पर स्याही फेंकने के जुर्म में गिरफ्तार किया गया। समाज की नज़र में स्याही फेंकने वाला व्यक्ति एक ऐसा दुष्ट था जो कोशिश करता तो अच्छा इन्सान भी बन सकता था। पर मनोवैज्ञानिकों की नज़र में वह एक लाचार, मनोरोगी है जो एक ऐसी प्रतीकात्मक क्रिया करता है जिसका अर्थ वह स्वयं भी नहीं जानता। प्रबुद्ध समाज उसे जेल के बदले, कोमलता से एक मनोचिकित्सक के पास ले जाता।

अवचेतन मन के मनोविज्ञान ने यह दिखाया है कि हमारे अधिकतर कर्मों का एक गुप्त स्रोत होता है जहाँ तक पहुँचने के लिए विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। और तो और मनोविश्लेषण भी हमारे गहनतम अवचेतन तक नहीं जाता। हम कर्म करते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि हम ऐसा क्यों कर रहे हैं।

कुछ समय पहले मैंने मनोविज्ञान की पुस्तकें परे हटाकर रख दीं और खपरैल लगाने के काम में जुट गया। पर अगर यह करने के बदले मैं स्याही छिड़कने लगता, तो मुझे यह पता नहीं होता कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ। परन्तु, क्योंकि खपरैल लगाना एक सामाजिक गतिविधि है, मैं सम्मानित नागरिक हूँ, और क्योंकि स्याही छिड़कना असामाजिक कृत्य है, वह स्याही छिड़कने वाला एक घृणित अपराधी है। फिर भी मुझमें और उस स्याही छिड़कने वाले में एक अन्तर है। अन्तर यह है कि मुझे चेतन रूप से हाथों से काम करना पसन्द है, पर वह अपराधी चेतन रूप से स्याही छिड़कना पसन्द नहीं करता। जब मैं हाथों से कुछ काम करता हूँ, तो मेरा चेतन और अवचेतन समन्वित रूप से काम कर रहा होता है। पर स्याही छिड़कने के कृत्य में चेतन और अवचेतन टकराते हैं। असामाजिक कृत्य इसी टकराव का नतीजा है।

कुछ वर्षों पूर्व, समरहिल में एक छात्र आया। ग्यारह साल का तेजस्वी, मेधावी, प्यारा सा लड़का। वह चुपचाप बैठा पढ़ता रहता। तब अचानक उछलकर उठता, कमरे से बाहर भागता और घर में आग लगाने की कोशिश में जुट जाता। उसे एक मनोवेग जकड़ लेता, ऐसा मनोवेग जिस पर नियंत्रण कर पाना उसके बस में नहीं था।

उसके पूर्ववर्ती शिक्षकों ने उसे समझा-बुझाकर और दण्ड देकर इस बात के लिए प्रोत्साहित किया था कि वह इच्छाशक्ति का उपयोग कर इस मनोवेग को नियंत्रित करे। पर आग लगाने की अवचेतन प्रेरणा इतनी तीव्र थी कि नियंत्रण से परे थी। लोग उसे बुरा न समझें - इस चेतन प्रेरणा से आग लगाने की अवचेतन प्रेरणा कहीं

तीव्र थी। यह लड़का *खराब* लड़का नहीं था। वह *बीमार* लड़का था। वे कौन से प्रभाव थे जिन्होंने उसे *बीमार* बना डाला था? वे कौन से प्रभाव हैं जो लड़कों और लड़कियों को बाल अपराधी बना डालते हैं? मैं समझाने की कोशिश करता हूँ।

जब हम किसी शिशु को देखते हैं, हम यह जान लेते हैं कि उसमें कोई दुष्टता नहीं है। वह उतना ही निर्मल है जितना पत्ता गोभी का फूल या शेर का छौना होता है। नवजात शिशु अपने साथ एक जीवन शक्ति लाता है। उसकी इच्छा, उसकी अचेतन इच्छा *जीने* की होती है। जीने की इच्छा उसे खाने, अपने शरीर और अंगों को तलाशने, अपनी इच्छाओं को पूरा करने को प्रेरित करती है। उसके सभी कृत्य वैसे होते हैं, जैसे कृत्य करने के लिए प्रकृति ने उसे *बनाया* है। पर वयस्कों की नज़र में - बच्चों में निहित ईश्वर इच्छा, उनमें निहित प्रकृति की इच्छा - शैतानी इच्छा है। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक वयस्क यह मानता है कि बच्चे के स्वभाव को बेहतर बनाना ज़रूरी है। और होता यह है कि प्रत्येक माता-पिता नन्हें से बच्चे को यह सिखाने में जुट जाते हैं कि वह कैसे जिए।

काफी जल्दी ही बच्चे को प्रतिबंधों की एक पूरी व्यवस्था का सामना करना पड़ता है। यह बदमाशी है, वह गन्दा है, और *यों* करना स्वार्थी है। बालक के मूल स्वर, उसके नैसर्गिक जीवन शक्ति को निर्देश के स्वरों का सामना करना पड़ता है। चर्च प्रकृति की आवाज़ को शैतान की आवाज़ कहेगा और निर्देश के स्वर को ईश्वर की आवाज़। मेरा पक्का विश्वास है हमें इस तुलना को उलट देना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि नैतिक निर्देश ही बच्चे को खराब बनाते हैं। मैं पाता हूँ कि जैसे ही मैं खराब बच्चे को दिए गए नीति उपदेश को खण्डित कर देता हूँ, वह एक अच्छा बच्चा बन जाता है।

सम्भव है कि वयस्कों के लिए नीति-निर्देशों की कोई सार्थकता हो, यद्यपि मुझे तो इसमें शंका है। पर बच्चों के लिए नीति-निर्देशों की आवश्यकता की कोई सार्थकता है ही नहीं। यह तो मनोवैज्ञानिक रूप से ही गलत है। बच्चे से कहना कि वह स्वार्थी न बने, गलत होगा। हरेक बच्चा आत्मकेन्द्रित होता है, और दुनिया उसकी होती है। अगर उसके पास एक सेब है, उसकी एकमात्र इच्छा उस सेब को खाने की ही होती है। और माँ उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित करती है कि वह उसे अपने भाई के साथ बाँटकर खाए। इसका मुख्य परिणाम होता है कि वह अपने छोटे भाई से ही घृणा करने लगता है। परमार्थ का भाव बाद में आता है - स्वाभाविक रूप से आता है, पर केवल तब ही जब उसे *निस्वार्थ बनना सिखाया न गया हो।* पर जिसे निस्वार्थी बनने पर बाध्य किया गया हो, वह बच्चा परमार्थ कभी सीखता ही नहीं है। बच्चों में स्वार्थ की भावना का दमन कर माँ उसे हमेशा-हमेशा के लिए स्वार्थी बना देती है।

ऐसा भला कैसे हो जाता है? मनोरोग विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपूर्ण इच्छाएँ अवचेतन मन में बस जाती हैं। जिस बच्चे को निस्वार्थ बनना सिखाया गया हो वह अपनी माँ को खुश करने के लिए उसकी माँग के अनुरूप आचरण करता है। पर वह अचेतन रूप से अपनी वास्तविक इच्छाएँ, स्वार्थी कामनाएँ दफन करता चलता है। पर इसी दमन के कारण उसकी बचकानी इच्छाएँ ताउम्र उसके साथ बनी रहती हैं। यों नैतिक निर्देश अपने ही उद्देश्य को विफल कर डालता है।

यही बात सेक्स के क्षेत्र में भी होती है। बाल्यावस्था की नैतिक वर्जनाएँ यौन में बचकानी रुचि को स्थाई बना डालती हैं। जो लोग बचकानी यौन हरकतों के लिए गिरफ्तार होते हैं - जो लड़कियों को अश्लील चित्र दिखाते हैं या सार्वजनिक रूप से अपने गुप्तांग का प्रदर्शन करते हैं - वे ऐसे पुरुष होते हैं जिनकी माताएँ नैतिकता से ओतप्रोत थीं। बाल्यावस्था की निरीह-सी रुचि को घोर पाप का शीर्षक दे डाला जाता है।

बच्चा उस समय अपनी इच्छाएँ दबा देता है। पर ये ही इच्छाएँ उसके अवचेतन में बनी रहती हैं और कालान्तर में अपने मूल स्वरूप या फिर अपने सांकेतिक स्वरूप में उभरती हैं। इसी प्रकार जो महिला दुकानों से बटुए चुराती है, वह भी एक ऐसा सांकेतिक कृत्य ही होता है जिसका सूत्र बाल्यावस्था में नैतिक उपदेश के कारण हुए दमन में ढूँढा जा सकता है। उसका यह आचरण दरअसल बचपन में दमित यौन रुचि की तुष्टि की कोशिश भी हो सकता है।

दरअसल ये लाचार लोग बेहद दुखी लोग हैं। चोरी करने का अर्थ होता है अपने समूह की नापसन्दगी को झेलना और समूह प्रवृत्ति हममें बड़ी मज़बूत होती है। अपने पड़ोसियों का सम्मान पाना मानव जीवन का एक वास्तविक उद्देश्य होता है। असामाजिकता मानव प्रकृति का हिस्सा है ही नहीं। अहंकार ही सामान्य लोगों को सामाजिक बनाने के लिए पर्याप्त होता है। अहंकार से बड़ा कारक ही व्यक्ति को असामाजिक बना सकता है।

यह बड़ा कारक भला क्या है? दो स्व के बीच का संघर्ष बेहद कड़वा होता है - वह स्व जिसे प्रकृति ने रचा था और वह दूसरा स्व जिसे नैतिक शिक्षा ने गढ़ा है। इस टकराव से अहंकार अपने बचकाने चरण में पलट जाता है। और तब भीड़ की राय गौण बन जाती है।

ऐसे में वह चोरी का रोगी जो कचहरी में उपस्थित होने की, अखबारों में लिखे जाने की शर्म को बखूबी जानता है, पर इसके बावजूद उसमें अपनी बचकानी इच्छा की पूर्ति की भावना जनता की राय के भय से कहीं बलवान होती है। हमारे पिछले विश्लेषण के अनुसार, चोरी का उन्माद खुशी तलाशने की इच्छा का प्रतीक है।

परन्तु क्योंकि वह मूल इच्छा इस सांकेतिक कृत्य से संतुष्ट नहीं हो पाती, वह व्यक्ति अपने प्रयास बार-बार दोहराता है।

एक उदाहरण से अपूर्ण इच्छा और बाद में उसके द्वारा ली गई राह स्पष्ट हो सकेगी। जब सात वर्षीय बिली को समरहिल लाया गया, तो उसके माता-पिता ने मुझे बताया कि वह चोर है। उसे आए सप्ताह भर भी नहीं गुज़रा होगा कि हमारे शिक्षकों में से एक ने मुझे बताया कि उनके कमरे में रखी मेज़ पर से उनके सोने की घड़ी गायब हो गई है। मैंने आवास-गृह माता से पूछा कि उसे इस बारे में कोई जानकारी है क्या।

उन्होंने कहा, “मैंने बिली को घड़ी के पुर्जों के साथ ज़रूर देखा था। जब मैंने पूछा कि उसे वे कहाँ से मिले तो उसने बताया कि वे उसे घर के बाग में एक गहरे गड्ढे में मिले थे।”

मुझे पता था कि बिली अपना सारा सामान एक सन्दूक में रखता है। मैंने सन्दूक के ताले को अपनी एक चाबी से खोला। उसमें सोने की घड़ी के अंजर-पंजर रखे थे। ज़ाहिर था उस पर हथौड़े और छेनी का इस्तेमाल किया गया था। मैंने सन्दूक बन्द की और बिली को बुलाया।

“तुमने एण्डरसन साहब की घड़ी देखी है?” मैंने पूछा।

अपनी बड़ी और निर्दोष आँखों से ताकते हुए उसने जवाब दिया, “नहीं,” और जोड़ा, “कौन-सी घड़ी?”

मैंने आधे मिनट उसे घूरा। तब कहा, “बिली तुम्हें पता है बच्चे कहाँ से आते हैं?” उसने रुचि से नज़रें उठाते हुए कहा, “हाँ, आकाश से।”

“बिल्कुल नहीं,” मैं मुस्कुराया। “तुम अपनी माँ के पेट में पलते रहे। और जब तुम बड़े हो गए तो तुम बाहर आए।” वह चुपचाप अपनी सन्दूक तक गया और टूटी घड़ी लाकर उसने मुझे थमा दी। उसकी चोरी के रोग का इलाज हो गया, क्योंकि वह तो सच को चुरा रहा था। उसके चेहरे पर जो चिन्ता का भाव था वह गायब हो गया। वह अब पहले जैसा प्रसन्न दिखने लगा।

पाठकों को लग सकता है कि बिली का नाटकीय इलाज जादुई था। ना, ऐसा कुछ नहीं था। जब बच्चा घर में किसी गहरे गड्ढे की बात करता है, तो सम्भव है कि वह अवचेतन रूप से उस गहरी गुहा की बात कर रहा हो, जहाँ उसका जीवन प्रारम्भ हुआ था। साथ ही मैं यह भी जानता था कि बिली के पिता के पास कई कुत्ते थे। मेरा अनुमान था कि उसने पिल्लों को जन्मते देखा होगा। और तब जोड़ लगाते हुए उसने शिशुओं के जन्म की बात का अन्दाज़ लगाया होगा। पर माँ के कमज़ोर से झूठ ने उसे अपने द्वारा तलाशे सिद्धान्त को दबाने पर मजबूर कर

दिया। सच्चाई जानने की उसकी इच्छा ने सांकेतिक तुष्टि का रूप लिया। संकेत रूप में वह माता को चुराता, यह जानने के लिए कि भीतर क्या है, उसे खोलता। मेरा एक और छात्र था जो इसी कारण हरेक दराज़ खोलता रहता था।

माता-पिता को समझाना यह होगा कि आप बच्चे को उस चरण में नहीं धकेल सकते जिसके लिए वह तैयार न हो। जो लोग अपने बच्चे को स्वाभाविक रूप से रेंगने के चरण से चलने के चरण तक विकसित नहीं होने देते, उसे जल्दी चलाने की कोशिश में टाँगों पर खड़ा कर देते हैं, उनके बच्चे की टाँगें इतनी मज़बूत नहीं होती कि वे उसका वज़न सम्भाल सकें। बच्चे से यह माँग ही समय पूर्व की जा रही होती है। परिणाम भयावह होता है। अगर वे उस समय तक इंतज़ार करते जब बच्चा *स्वाभाविक* रूप से चलने के लिए तैयार हो जाता तो बच्चा स्वयं ही, सहज ही ऐसा करता। इसी तरह समय से पूर्व बच्चे को टट्टी-पेशाब के लिए प्रशिक्षित करने का नतीजा भी निराशाजनक सिद्ध हो सकता है।

नैतिक निर्देशों पर भी यही बात लागू होती है। बच्चे को उस समय उन मूल्यों को अपनाने को बाध्य करना जिनके लिए वह स्वाभाविक रूप से तैयार न हो, न सिर्फ सही समय आने पर उन मूल्यों को अपनाने की सम्भावना को अवरुद्ध करता है, बल्कि मनोरोग भी उत्पन्न करता है।

छह साल के बच्चे से यह माँग करना कि वह छड़ से झूले और शरीर को हाथों से ऊपर उठाकर चार बार छड़ से अपनी टुड़डी टिकाए, नाजायज़ होगा। उसकी माँसपेशियाँ ऐसी वर्जिश के लिए तैयार नहीं हैं। पर अगर इसी बच्चे को स्वाभाविक रूप से विकसित होने दिया तो वह अठारह साल का होने तक ऐसा आसानी से कर सकेगा। ठीक इसी तरह हमें बालक के नीतिबोध के विकास में भी जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। माता-पिता को धीरज रखना होगा। उन्हें यह विश्वास रखना होगा कि अनुचित हस्तक्षेप द्वारा उसे अपंग बनाए बिना अगर उसे स्वाभाविक रूप से विकसित होने दिया जाए तो वह ज़रूर एक नेक इन्सान बन सकेगा।

बच्चों के साथ समरहिल में वर्षों का मेरा अनुभव मुझे विश्वास दिलाता है कि *बच्चों को सही आचरण सिखाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। क्या सही है और क्या गलत वह बच्चा समय के साथ खुद ब खुद सीखता है - बशर्ते उस पर कोई दबाव न डाला गया हो।*

सीखना दरअसल अपने आसपास के वातावरण से मूल्यों को पाने की ही प्रक्रिया है। अगर माता-पिता स्वयं ईमानदार और नीतिवान हैं तो समय के साथ उनके बच्चे भी उसी राह को अपनाएँगे।

बच्चों पर प्रभाव डालना

बच्चे को प्रभावित करना सभी अभिभावक व शिक्षक अपना फर्ज और धंधा मानते हैं। इसलिए, क्योंकि उनका मानना है कि वे यह जानते हैं कि बच्चों के पास क्या-क्या होना चाहिए, उन्हें क्या सीखना चाहिए, उन्हें क्या बनना चाहिए। मैं इससे सहमत हूँ। मैं कभी बच्चों पर अपने विश्वास और पूर्वाग्रह नहीं लादता। मैं स्वयं किसी धर्म का अनुयाई नहीं हूँ, पर मैंने धर्म के विरुद्ध उनसे एक भी शब्द नहीं कहा है। न ही मैं हमारी बर्बर अपराध संहिता के विरुद्ध, यहूदियों के प्रति भयबोध के विरुद्ध, न ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध कुछ कहता हूँ। मैंने कभी भी बच्चों को सायास शान्तिवादी, शाकाहारी, सुधारक या कुछ और बनने के लिए दबाव नहीं डाला है। मैं यह जानता हूँ कि किसी भी प्रकार का उपदेश बच्चों की नज़र में बेईमानी होता है। मैं आज़ादी की ताकत में विश्वास करता हूँ। मेरा विश्वास है कि आज़ादी की ताकत युवा वर्ग को हर तरह के छल-छद्म, कट्टरता और वाद से बचा सकेगी। बच्चे पर लादा गया हरेक मत उसके विरुद्ध अपराध है। बच्चा एक नन्हा वयस्क नहीं है और वह वयस्कों के नज़रियों को किसी हालत में समझ नहीं सकता।

एक उदाहरण देता हूँ। एक रात मैंने पाँच से ग्यारह वर्ष की आयु वाले पाँच बच्चों से कहा, “सुश्री ‘क’ को इंप्लुऐंज़ा हुआ है, इसलिए कोशिश करना कि सोने जाते समय शोर-शराबा न हो।” उन्होंने शान्त रहने का वादा किया। पाँच ही मिनट गुज़रे होंगे कि उनमें धुआँधार तकिया-युद्ध शुरू हो गया। खूब शोर मचाया। सम्भावना है कि उनके अवचेतन मन में सुश्री ‘क’ का जीना हराम करने की इच्छा हो। पर इस सम्भावना को परे रखकर मेरा मानना है कि भूल उनकी उम्र की ही थी। सच है कि कड़क आवाज़ और हंटर उस वक्त सुश्री ‘क’ के लिए अमन-चैन की स्थिति पैदा कर सकते थे, पर यह शान्ति तब बच्चों के जीवन में भय को घुसाने की कीमत पर खरीदी गई शान्ति होती। बच्चों को सिखाने का सार्वभौमिक तरीका है उन्हें हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लेना। यह तरीका गलत है। बिरले ही माता-पिता या शिक्षक ऐसे होंगे जो इस सच्चाई को पहचानते हैं कि बच्चों पर उपदेश झाड़ना बेकार है। ऐसा कोई बच्चा नहीं होगा जिस पर, बिल्ली की पूँछ खींचने पर झाड़े गए उपदेश, “कोई तुम्हारा कान खींचे तो कैसा लगेगा तुम्हें”, का कोई असर हुआ हो। न ही बच्चे को उस स्थिति में माता-पिता की बात समझ आती है जब वे, “नन्हें को पिन चुभाई तुमने? मैं बताता हूँ कि पिन से कितना

दर्द होता है, मैं भी चुभाता हूँ।” (बच्चे की चीख) “अब शायद तुम ऐसी हरकत नहीं दोहराओगे।” बच्चा शायद भविष्य में पिन न चुभाए, पर उसके नतीजे हमें मनोचिकित्सकों की क्लिनिकों में ज़रूर दिखेंगे।

मैं माता-पिता को यह समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि बालक कार्य-कारण सिद्धान्त नहीं समझते। बच्चे से कहना, “तुमने इतनी शैतानी की है कि अब तुम्हें शनिवार को मिलने वाली चवन्नी नहीं मिलेगी”, बिल्कुल गलत है। क्योंकि जब शनिवार को उसे उसकी शैतानियों की और उसकी सज़ा की याद दिलाई जाती है तो वह बेहद नाराज़ होता है। सोमवार की घटना उसके लिए इतिहास बन चुकी होती है। उस घटना का शनिवार को मिलने वाली चवन्नी से क्या लेना-देना है। उसके मन में रत्तीभर भी पश्चाताप नहीं जगता। जगती है वंचित करने वाली सत्ता के प्रति घृणा।

माता-पिता को हमेशा खुद से एक सवाल पूछना चाहिए। वह यह है कि बच्चों को दिये जा रहे निर्देश कहीं अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा के कारण तो नहीं है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आन्तरिक इच्छा ही उन्हें बच्चे को बदलने को मजबूर कर रही हो। हरेक व्यक्ति चाहता है कि पड़ोसी उसे भला समझे। अगर कोई दूसरी ही ताकतें बच्चे को असामाजिक व्यवहार करने पर मजबूर न करें, तो स्वाभाविक रूप से बच्चा वही करना चाहेगा जिससे उसके प्रति सबकी राय अच्छी रहे। पर दूसरों को खुश रखने की उसकी यह इच्छा उसके निजी विकास के एक निश्चित चरण में नहीं पनपेगी। उस चरण तक जल्दी से जल्दी पहुँचने के माता-पिता या शिक्षकों द्वारा किए गए प्रयास बच्चों को अपूर्णाय क्षति पहुँचाएंगे।

मैं एक बार एक आधुनिक शाला में गया जहाँ तकरीबन सौ लड़के-लड़कियाँ प्रातःकालीन सभा में एक पादरी का भाषण सुनने को एकत्रित हुए थे। पादरी साहब ने जोशीला भाषण दिया, उन्होंने आह्वान किया कि वे यीशू की पुकार पर गौर करें। बाद में प्राचार्य महोदय ने मुझसे इस सम्भाषण पर राय माँगी। मैंने उत्तर दिया कि मुझे वह नितान्त अनुचित लगा था। क्योंकि वहाँ दर्ज़नों बच्चे थे जिनके मन में यौन या दूसरी चीज़ों को लेकर अपराधबोध था। पादरी साहब के भाषण से हरेक का अपराधबोध और गहराया ही होगा।

एक दूसरा प्रगतिशील स्कूल है जहाँ बच्चों को हर सुबह नाश्ते से पहले जबरन, आधे घण्टे तक बाख का संगीत सुनाया जाता है। बच्चों के स्तर को उठाने के लिए उनके समक्ष नैतिक मानदण्ड रखने के ऐसे प्रयासों का ठीक वही मानसिक प्रभाव पड़ता है जो नरक की आग का भय दिखाने पर पड़ता है। क्योंकि तब बच्चा उस सबका दमन करता है जिसे घटिया रुचि का दर्ज़ा दिया जाता है।

जब कोई प्राचार्य मुझसे कहता है कि उसके छात्र जैज़ संगीत के बदले बीथोविन

सुनना पसन्द करते हैं, तो मुझे लगता है कि उन्होंने अपने दबाव का इस्तेमाल किया है। इसलिए क्योंकि मेरे अधिकाँश छात्र-छात्राएँ जैज़ ही पसन्द करते हैं। मुझे व्यक्तिगत स्तर पर जैज़ की चीख-पुकार सख्त नापसन्द है। फिर भी मैं जानता हूँ कि भला और ईमानदार होने के बावजूद वह प्राचार्य गलत है।

जब एक माँ बच्चे को अच्छा बनना सिखाती है, वह बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाती है। वह बच्चे से कहती है, “जो तुम करना चाहते हो, वह गलत है।” यह कहना उसे खुद से घृणा करने को कहने के ही समान है। खुद से नफरत करने वाला इन्सान दूसरों से प्रेम करे, यह असम्भव है। हम तभी न दूसरों से प्यार कर सकते हैं, जब हम स्वयं से प्यार करें। अपने बच्चे को किसी नगण्य सी यौन आदत पर दण्डित करने वाली माँ, हमेशा वही महिला होती है जिसका यौन के प्रति दृष्टिकोण घटिया और अश्लील हो। न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठा एक शोषणकर्ता उस व्यक्ति से सच में नाराज़ होता है, जिस पर एक बटुआ चुराने का आरोप है। हममें अपने गिरहबान में झाँककर अपनी नंगी आत्मा को देखने का साहस ही नहीं होता, इसीलिए हम नैतिकतावादी बनते हैं। बच्चों को हम जो मार्गदर्शन देते हैं वह परोक्ष रूप से खुद हमारे लिए ही होता है। हम अवचेतन रूप से उस बच्चे की जगह खुद को देखते हैं। हमें वही बच्चा सबसे खराब लगता है जो हमें हमारे जैसा लगता है। हम दूसरों में उसी चीज़ से नफरत करते हैं, जिसे हम खुद में नापसन्द करते हैं। अब चूंकि हम सब आत्मश्लाघा से त्रस्त हैं, इसलिए बच्चों को इसका नतीजा चपतों, झापड़ों, डाँटों, वर्जनाओं और उपदेशों के रूप में झेलना पड़ता है। हम खुद से नफरत भला क्यों करते हैं? यही तो दुष्क्र है। हमारे माता-पिता ने भी प्रकृति द्वारा प्रदत्त हमारे स्वभाव को सुधारने की कोशिश की थी।

बुरे काम करने वाले बच्चे या व्यक्ति से निपटते समय माता-पिता, शिक्षकों, न्यायाधीशों को स्वयं अपने भावनात्मक घटकों का सामना करना पड़ता है। वह वास्तव में क्या है, एक नैतिकतावादी नफरत करने वाला, परपीड़ा में आनन्द लेने वाला, अनुशासक? क्या वह युवाओं की काम-भावनाओं का दमन करने वाला है? क्या उसे मनोविज्ञान की गहराइयों का इल्म भी है? क्या वह परिपाटियों के अनुरूप और अपने पूर्वाग्रहों द्वारा फैसले कर रहा है? संक्षेप में कहें तो वह स्वयं कितना आज्ञादा है?

हममें से कोई भी भावनात्मक रूप से स्वतंत्र नहीं है क्योंकि हमारा अनुकूलन पालने में ही शुरू हो चुका था। सम्भवतः जो सवाल हमें खुद से पूछना चाहिए वह यह है: *क्या हम इतने आज्ञादा हैं कि हम किसी दूसरे की जिन्दगी में दखल देने से खुद को रोक सकें? क्या हम इतने स्वतंत्र हैं कि हम निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ बन सकें?*

कसमें खाना और गालियाँ बकना

समरहिल की हमेशा एक आलोचना यह रहती है कि यहाँ के बच्चे गालियाँ बकते हैं। यह सच है कि वे गालियाँ देते हैं। अगर पुरानी अंग्रेज़ी के शब्दों का इस्तेमाल करना गाली बकना है, तो वे यह करते हैं। और यह भी सच है कि हमारे नए बच्चे ज़रूरत से कहीं ज़्यादा गालियाँ देते हैं।

स्कूल की आमसभा में कॉन्वेंट से आई एक तेरह वर्षीय लड़की पर हमेशा यह आरोप लगाया जाता था कि वह जब भी समुद्र तट पर तैरने जाती है तो ज़ोर-ज़ोर से *हरामज़ादा* कहती है। उसे यह अहसास करवाया गया था कि वह सार्वजनिक स्थल पर, अपरिचित लोगों के समक्ष ही ऐसा करती थी। अर्थात् दरअसल वह इस नुमाइश द्वारा शान बघारने की कोशिश करती थी। एक लड़के ने उससे कहा, “तुम निहायत बेवकूफ हो। तुम दूसरों के सामने शेखी बघारने के लिए ही गालियाँ बकती हो और दावा यह करती हो कि समरहिल के आज़ाद वातावरण पर तुम्हें गर्व है। पर करती तुम ठीक इसका उल्टा हो। तुम लोगों की नज़र में स्कूल का नाम डुबाती हो।”

मैंने उसे समझाया कि वह वास्तव में स्कूल को नुकसान पहुँचाती रही थी क्योंकि वह स्कूल से नफरत करती थी। “पर मैं समरहिल से नफरत नहीं करती” उसने सुबकते हुए कहा। “यह तो बहुत बढ़िया जगह है।”

“हाँ,” मैंने कहा, “जैसा तुमने कहा, समरहिल अच्छा स्कूल है। पर तुम तो यहाँ हो ही नहीं। तुम तो अब भी अपने कॉन्वेंट में ही हो। कॉन्वेंट और उसमें पढ़ाने वाली ननों की नफरत तुम अपने साथ उठा लाई हो। तुम घृणित कॉन्वेंट और समरहिल को एक ही मान बैठी हो। तुम समरहिल को नहीं, अपने पुराने कॉन्वेंट को नुकसान पहुँचाने की कोशिश कर रही हो।” पर इसके बावजूद वह अपनी तकिया-कलाम गाली का उपयोग करती रही। तब तक, जब तक समरहिल उसके लिए एक प्रतीक के बदले एक वास्तविक जगह न बन गई। तब जाकर उसकी गाली-गलौज बन्द हुई।

गालियाँ तीन तरह की होती हैं: सेक्स, धर्म और मल-मूत्र से जुड़ी। समरहिल में धर्म सम्बंधी गालियों की समस्या नहीं है क्योंकि उन्हें धर्मउपदेश दिया ही नहीं जाता। ज़्यादातर बच्चे और अधिकांश वयस्क, सभी गालियाँ देते हैं। सेना भी ऐसे

विशेषणों के लिए प्रसिद्ध है। अधिकांश विश्वविद्यालयों और क्लबों में छात्र-छात्राएँ सेक्स या मल-मूत्र से सम्बंधित गालियाँ बकते हैं। स्कूली छात्र भी गुपचुप गालियाँ देते हैं, अश्लील कहानियाँ कहते हैं। समरहिल और दूसरे स्कूलों में अन्तर बस इतना ही है कि एक में बच्चे खुले आम कोसते हैं और दूसरों में गुपचुप।

समरहिल में गाली-गलौज को एक समस्या बनाने वाले हमेशा ही नए छात्र-छात्राएँ रहे हैं। ऐसा नहीं कि पुराने छात्रों के मुँह से सिर्फ संत-वचन ही झरते हों, पर कहा जा सकता है कि वे सही समय पर ही गालियों का सहारा लेते हैं। वे स्वयं को सायास नियंत्रित करते हैं और ख्याल रखते हैं कि बाहरी लोगों को ठेस न पहुँचे।

हमारे छोटे छात्रों की टट्टी के पुरातन पर्यायवाचियों में रुचि है। वे उन शब्दों को खूब काम में लेते हैं, कम से कम वे जो शिष्ट घरों के बच्चे हैं। मेरा आशय उन घरों से है जो *दो नम्बर* की बात करते हैं। इन बच्चों को ऐंग्लो-सैक्सन शब्द अच्छे लगते हैं। एकाधिक बच्चे ने मुझसे जानना चाहा है कि सबके सामने “टट्टी” (शुद्ध शब्द) कहना क्यों गलत है, जबकि *मल*, *फीसिस* या *एक्सक्रीमेंट* कहना सही है। मैं इस मसले पर स्वयं ही उलझन में हूँ।

शिशुशाला के बच्चे जब गढ़ने के प्रयासों से मुक्त होते हैं तो उनकी शब्दावली अधिकतर मल-मूत्र भरी होती है। हमारे चार से सात साल की उम्र के बच्चों को टट्टी या मुत्ती कहने में मज़ा आता है। मुझे अहसास है कि उन सबको शैशव में कठोर टॉयलेट-प्रशिक्षण दिया गया होगा। और सम्भवतः इसी कारण उनके मन में इन नितान्त प्राकृतिक कार्यों को लेकर मनोग्रंथियाँ होंगी। पर इनमें से एक-दो बच्चे ऐसे भी हैं जिन्हें आत्म संचालन के परिवेश में पाला-पोसा गया था। उन्हें सफाई के लिए अनुशासित नहीं किया गया था, न ही उन्हें वर्जनाएँ झेलनी पड़ी थीं, न उनसे कहा गया था *गलत बात* या *छिः गन्दी बात*। उन पर शारीरिक नग्नता या प्राकृतिक मल-मूत्र क्रियाओं का हौवा सवार नहीं किया गया था। पर लगता यह है कि इन आत्मसंचालित बच्चों को भी इन शब्दों के इस्तेमाल में उतना ही मज़ा आता है जितना उनके अनुशासित दोस्तों को। ज़ाहिर है कि यह दावा झूठा है कि गाली बकने की आज्ञादी स्वतः ही भद्दे या अश्लील शब्दों का आकर्षण खत्म कर देगी। हमारे नन्हें-मुन्ने इन शब्दों का खुलकर, बिना संदर्भ समझे, इस्तेमाल करते हैं, जबकि बड़े लड़के-लड़कियाँ, वयस्कों की तरह ही गालियों का उपयुक्तता के साथ उपयोग करते हैं।

यौन शब्दों का उपयोग मल-मूत्र शब्दों से अधिक किया जाता है। हमारे बच्चों को मल-मूत्र के उल्लेख मज़ाकिया नहीं लगते। इनका उल्लेख दबाया नहीं जाता है इसलिए वह कुछ उबाऊ और तथ्यात्मक बन जाता है। पर यौन के साथ ऐसा नहीं है। सेक्स जीवन का इतना महत्वपूर्ण हिस्सा है कि उससे जुड़ी शब्दावली हमारे

पूरे जीवन में व्याप्त है। स्वीकृत रूप में वह हमारे हर नाच व गाने में झलकती है - मेरी गर्मगर्म छबीली हो या जब रात में तुझे अकेला पाऊँ हो।

बच्चे गाली-गलौज को भाषा का स्वाभाविक हिस्सा मानते हैं। वयस्क इसकी भर्त्सना इसलिए करते हैं क्योंकि उनकी अश्लीलता बच्चों से कहीं ज़्यादा होती है। अश्लील व्यक्ति ही अश्लीलता की भर्त्सना करता है। मैं तो यह कल्पना भी कर सकता हूँ कि अगर माता-पिता बच्चे को यह विश्वास दिला दें कि नाक गन्दी और खराब वस्तु है, तो बच्चा अँधेरे कोने में छुपकर *नाक* शब्द ही फुसफुसाने लगेगा।

माता-पिता को खुद से पूछना चाहिए कि, “क्या मैं अपने बच्चों को खुल्लम-खुल्ला गालियाँ देने दूँ या उन्हें अँधेरे कोनों में गाली बकने की अनुमति दूँ?” बीच का कोई रास्ता है ही नहीं। बड़े होने पर गुपचुप तरीका उन घटिया किस्सों का रूप ले लेता है जिन्हें शहर-गाँव में घूम-घूमकर बिक्री करने वाले लोग सुनाते हैं। खुलापन समूचे जीवन में स्पष्ट और स्वच्छ रुचि तक ले जाता है। मैं पूरे साहस के साथ दावा करता हूँ कि हमारे बच्चों के दिमाग पूरे इंग्लैण्ड में सबसे साफ हैं।

फिर भी बच्चों को जीवन विरोधी सम्बंधियों और पड़ोसियों की नाराज़गी का सामना कभी न कभी करना ही पड़ता है। ज़ोई के दृष्टान्त में हमने पाया है कि वह बाहरी व्यक्तियों के आचरण का तार्किक स्पष्टीकरण स्वीकार लेती है। किसी बच्चे ने उसे एक ऐसा शब्द सिखाया, जिसे छापने की अनुमति कानून हमें नहीं देता। एक बार हम एक भावी अभिभावक से, जो एक परम्परागत व्यवसायी थे, साक्षात्कार कर रहे थे। ज़ोई किसी खिलौने को जोड़ने में व्यस्त थी। हर बार असफल होने पर वह कहती - ‘तेरी...तो।’ हमने उससे बाद में कहा (अब लगता है ऐसा करना गलत था) कि कुछ लोगों को वह शब्द नापसन्द है और मेहमानों की मौजूदगी में उसे वह शब्द नहीं बोलना चाहिए। उसने कहा, ‘ठीक है।’

सप्ताह भर बाद वह कुछ ऐसा काम कर रही थी जो कठिन था। उसने ऊपर देखा और शिक्षिका से पूछा, “क्या तुम मेहमान हो?”

शिक्षिका ने कहा, “बिल्कुल नहीं।”

ज़ोई ने चैन की साँस ली और चीखकर कहा “तेरी..... तो।”

मैंने अनेकों ऐसे बच्चे देखे हैं, जिन्हें घर में कुछ भी कहने की छूट होती है, पर जिन्हें दूसरे घरों में आलोचना सहनी पड़ती है। *भई टॉमी को पार्टी में नहीं बुलाया जा सकता, वह हमारे बच्चों को भी बिगाड़ देगा।* बहिष्कार सबसे दुखदाई सज़ा है। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम बाहरी दुनिया की वर्जनाओं पर ध्यान दें, और अपने बच्चों का उसके हिसाब से मार्गदर्शन करें। पर यह मार्गदर्शन निन्दापूर्ण दण्ड के बिना ही होना चाहिए।

सैंसरशिप/रोक-टोक/नियंत्रण

बच्चे जो कुछ पढ़ते हैं उसे किस हद तक नियंत्रित करना चाहिए? मेरे दफ्तर की अल्मारियों में मनोविज्ञान तथा यौन पर अनेकों किताबें हैं। कोई भी बच्चा उनमें से किसी भी किताब को जब चाहे पढ़ने के लिए ले जा सकता है। पर मुझे शक है कि उनमें से एकाध के अलावा शेष बच्चों ने उनमें विशेष रुचि जताई है। किसी भी लड़की या लड़के ने *लेडी चैटरलीस लवर* या *यूलिसीस* या *क्राफ्ट-एबिंग* की प्रति नहीं माँगी है। एक-दो बड़े बच्चों के अलावा किसी ने *इंसायक्लोपीडिया ऑफ सेक्स नॉलेज* की प्रति भी नहीं चाही है।

एक बार एक चौदह वर्षीया नई छात्रा ने *अ यंग गर्ल्स डायरी* की प्रति मेरी अल्मारी में से उधार ली। मैंने उसे वह पुस्तक पढ़ते और ठिठियाते देखा। छह माह बाद उसने एक बार फिर वही किताब चाही। उसने किताब दूसरी बार पढ़ी और लौटाते समय बताया कि उसे किताब उबाऊ लगी। जो पुस्तक अज्ञान को मसालेदार और चटपटी लगी थी, वही ज्ञान को साधारण और उबाऊ लगी। यह लड़की जब समरहिल आई तो उसकी पृष्ठभूमि कक्षा के अँधेरे कोनों में फुसफुसाई गई तथ्यहीन अश्लीलता थी। मैंने उसे यौन मसलों पर जानकारी दी। वर्जना बच्चों को मजबूर करती है कि वे चोरी-छिपे किताबें पढ़ें।

बचपन में हम जो पढ़ते थे उस पर कड़ा नियंत्रण था। यही कारण था कि हमारी सबसे बड़ी महत्वाकाँक्षा थी *टेस ऑफ द डी 'उरबरविलेस* या *रॉबेलैस* या फ्रेंच में लिखी अश्लील प्रेम कथाओं की प्रति हथिया पाना। दूसरे शब्दों में कहें तो सबसे रोचक पुस्तक चुनने का हमारा मानदण्ड ही यह था कि उसके पढ़ने पर प्रतिबंध है या नहीं।

पढ़ने पर सैंसर इस अर्थ में बेमानी है कि यह किसी की सुरक्षा नहीं करता। जेम्स जॉयस की पुस्तक *यूलिसीस* का उदाहरण ही लें, जो एक समय में इंग्लैण्ड और अमरीका में प्रतिबंधित थी। लेकिन उसकी प्रतियाँ पेरिस या वियेना में खरीदी जा सकती थीं। पुस्तक में ऐसे शब्द थे जिन्हें सामान्यतः अश्लील कहा जाता है। भोले पाठक इन शब्दों को समझते नहीं थे और जो पहले ही इनके अर्थ जानते थे, वह उनसे भला कैसे भ्रष्ट हो सकते थे। मुझे याद आता है कि एक स्कूल के प्राचार्य ने मेरी इसलिए आलोचना की क्योंकि मैंने पुस्तकालय में *द प्रिज़नर ऑफ ज़ेंदा*

की प्रति मँगवा ली। मुझे आश्चर्य हुआ, सो मैंने नाराज़गी का कारण जानना चाहा। उनका कहना था कि पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में नाजायज़ औलाद का उल्लेख है। मैं किताब दो बार पढ़ चुका था, पर इस तथ्य पर मेरा ध्यान ही नहीं गया था।

बच्चों के दिमाग अधिकांश वयस्कों की तुलना में अधिक साफ होते हैं। सम्भव है कि वे *टॉम जोन्स* को पूरा पढ़ जाएँ, पर उसके अश्लील भागों पर गौर ही न करें। अगर हम बच्चे को यौन सम्बंधी अज्ञानता से मुक्त कर दें तो हम किसी भी किताब में निहित खतरे को भी निरस्त कर सकेंगे। मैं किसी भी उम्र में किताबों के पढ़ने पर प्रतिबंध के खिलाफ हूँ।

किताबों पर प्रतिबंध उस समय समस्या बनता है जब हम सेक्स को छोड़ भय की ओर बढ़ते हैं। ब्रैम स्टोकर की पुस्तक *ड्रेक्व्यूला* इतनी भयानक है कि उसका किसी मनोरोगी बच्चे पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है। मैं ऐसे बच्चे के सामने जानबूझकर *ड्रेक्व्यूला* की प्रति नहीं छोड़ूँ। फिर भी क्योंकि मेरा काम भय की जड़ तक पहुँचना है, मैं उसे वह किताब पढ़ने से रोकूँगा भी नहीं। बल्कि, मैं उन लक्षणों से सलटूँगा जो पुस्तक पढ़ने से बच्चे में उभरेंगे।

याद आता है कि बचपन में मैं उस बाइबल कथा से बेहद घबरा गया था जिसमें बच्चों को भालू खा जाते थे। पर इसके बावजूद आज तक किसी ने बाइबल को प्रतिबंधित करने की बात नहीं की है। कई बच्चे बाइबल तक में अश्लील हिस्सों की तलाश करते हैं। जब मैं छोटा था तो मुझे ऐसे सारे हिस्से पता थे। अब मुझे यह लगता है कि भालुओं के प्रति मेरा डर कहीं इन हिस्सों की जानकारी से जगे अपराधबोध का नतीजा तो नहीं था।

हम अक्सर खून-खराबे से भरी कथाओं का बच्चों पर होने वाले असर को बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं। पर ज़्यादातर बच्चे पीड़ादायी कहानियों को बेहद चाव से पढ़ते हैं। रविवार रात को जब मैं बच्चों को साहसिक कारनामों के किस्से गढ़कर सुनाता हूँ, जिनमें नरभक्षियों के चंगुल से वे आखिरी पल में बचा लिए जाते हैं, तो वे खुशी से उछल पड़ते हैं।

बच्चों को जादू-टोने की कहानियाँ शायद अधिक डराती हैं। ज़्यादातर बच्चे भूतों से डरते हैं। खासकर ऐसे बच्चे जो धार्मिक परिवारों से आते हैं। यहाँ भी, यौन मामलों की ही तरह, सही तरीका होगा भय से निपटना, न कि किताब पढ़ने पर रोक लगाना। मैं मानता हूँ कि आत्मा में बसे भूत का खात्मा कठिन काम है, पर शिक्षक या चिकित्सक को यह कोशिश करनी ही पड़ेगी। माता-पिता की ज़िम्मेदारी यह सुनिश्चित करना है कि ये भूत बच्चे की आत्मा में दाखिल ही न हों।

निर्दयी, विकराल भूतों या दुष्ट चुड़ैलों की कहानियाँ बच्चों के माता-पिता को कभी

नहीं सुनानी चाहिए। कुछ लोग *सिण्ड्रेला* की कथा पर इसलिए आपत्ति करते हैं क्योंकि वह एक गलत संदेश देती है : राख से ऊपर उठने की कोशिश करो और परी माँ तुम्हें बदले में पति के रूप में राजकुमार देगी। पर किसी स्वस्थ बच्चे पर *सिण्ड्रेला* की कथा क्या दुष्प्रभाव डाल सकती है?

रेल्वे स्टेशनों के किताब-घरों में अपराध कथाओं की भरमार होती है। जब एक सोलह वर्षीय लड़का एक पुलिसवाले को गोली मारता है, तो लाखों पाठकों को यह आभास तक नहीं होता कि वह लड़का ठीक उसी कल्पना को जी रहा है, जिसे पढ़कर उन्हें आनन्द आता है। लोमहर्षक कथाएँ इस बात का प्रतीक हैं कि हम कल्पना कर पाने में, रचना कर पाने में अक्षम हैं। ऐसी कथाएँ मूलतः दूसरों को आहत करने की, उनकी हत्या करने की हमारी दमित घृणा को छूती हैं।

सिनेमा देखने जाना और किताबें पढ़ना, दो अलग-अलग श्रेणियों में आते हैं। जो लिखा गया है वह कभी भी उतना डरावना नहीं हो सकता जितना वह जो देखा और सुना गया हो। कुछ फिल्मों बच्चों को आतंकित कर देती हैं और किसी को पता नहीं होता कि किस पल कोई भयानक दृश्य दिख जाए। पर्दे पर बेइंतहा हिंसा दर्शाई जाती है। पुरुष एक दूसरे को जबड़े पर मुक्के जड़ते दिखाए जाते हैं। यहाँ तक कि वे महिलाओं पर भी हमला करते दर्शाए जाते हैं। समाचार-चित्रों में बॉक्सिंग और कुश्ती प्रतियोगिताएँ दिखाई जाती हैं। इसी पर बैलों के दंगल (बुल-फॉइंटिंग) पीड़ादाई परिदृश्य को पूरा करते हैं। मैंने *पीटर पैन* की परीकथा में बच्चों को मगरमच्छों या डाकुओं से डरते देखा है। बैम्बी नामक हिरनी की फिल्म इतनी खूबसूरत, मानवतावादी और प्रेमल है कि उसे देखने के बाद कोई हिरन का शिकार कैसे कर पाता है यह मेरी समझ से परे है। बच्चों को यह फिल्म बेहद प्यारी है, यद्यपि जब शिकारी के कुत्ते बैम्बी पर हमला करते हैं तो बच्चे डर के मारे रो पड़ते हैं। अतः जब कुछ माँ-बाप छोटे बच्चों को कुछ फिल्मों देखने से रोकते हैं, तो बात समझ में आती है।

यौन फिल्में ज़्यादातर बच्चों के लिए नुकसानदेह हैं - इस धारणा पर सवाल उठाए जा सकते हैं। ज़ाहिर है कि मुक्त बच्चों पर उनका दुष्प्रभाव नहीं होगा। मेरे छात्र-छात्राओं ने *ल रौंदे* नामक फ्रेंच फिल्म बिना भावनाएँ या विपरीत असर दर्शाए देखी है। यह इसलिए होता है क्योंकि बच्चे वही देखते हैं जो वे देखना चाहते हैं।

यौन दृश्यों के बिना फिल्मों बॉक्स ऑफिस में पिट जाती हैं। यौन फिल्मों से होने वाली राष्ट्रीय आय किताबों या संगीत से कहीं अधिक होती है। संगीत सभा की टिकटों की जितनी बिक्री होती है उससे अधिक बिक्री सौंदर्य प्रसाधनों की होती है। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि यौन के जिस रूप के उल्लेख की इजाज़त है, उसकी तहों में वह रूप भी होता है जिसकी अनुमति नहीं होती। दुल्हन के वाहन के पीछे

जूता और बिखरे जाने वाले चावल उन्हीं गैरउल्लेखनीय वस्तुओं के प्रतीक हैं। फिल्मों की लोकप्रियता हममें छुपी भगोड़ी वृत्ति के कारण है। यही कारण है कि फिल्म निर्माता भव्य दृश्य और खूबसूरत पोशाकें पेश करते हैं। ऐसे भोग-विलास के परिवेश में खराब पात्रों की गर्दन उड़ती हैं और सद्चरित्र पात्र हमेशा के लिए सुख चैन से जीवन काटते हैं।

हाल में हमने एक चलचित्र देखा जिसमें एक व्यक्ति ने अपनी आत्मा शैतान को बेच दी थी। सभी बच्चे इस बात पर सहमत थे कि शैतान काफी कुछ मेरे जैसा लग रहा था। मैं उन सभी बच्चों के लिए शैतान बन जाता हूँ जिन्हें बचपन से यह सिखाया गया है कि यौन दुराचार ईश्वर के विरुद्ध पाप है। जब मैं उन्हें यह कहता हूँ कि हमारे शरीर का कोई भी भाग पापमय नहीं है तो वे मुझे ललचाने वाले शैतान के रूप में देखने लगते हैं। मनोरोगी बच्चों के लिए मैं भगवान और शैतान, दोनों का ही प्रतीक बन जाता हूँ। ऐसे ही एक नन्हें ने शैतान की हत्या करने के लिए हथौड़ी उठा ली। मनोरोगी बच्चों की मदद करना खतरे से खाली नहीं है।

बच्चों की दोस्तियों पर रोक लगाना, अधिकतर दृष्टान्तों में कठिन सिद्ध होता है। मुझे लगता है कि यह केवल तब किया जाना चाहिए जब पड़ौसी बच्चा क्रूर या दादागिरी झाड़ने वाला हो। सौभाग्य से बच्चे स्वयं स्वाभाविक रूप से चयन क्षमता रखते हैं और देर-सबेर उपयुक्त दोस्त तलाश लेते हैं।